बिहार चुनाव 2025: प्रचार से ग़ायब रहे मूल मुद्दे

बिहार में असमानता तथा प्रवास जैसे मुद्दे मौसमी तौर पर मुख्यधारा में आ पाते हैं। होली, दिवाली, छठ जैसे त्यौहारों पर देश के कोने–कोने से जब मज़दूरों का अंतहीन हुज़ूम अपने घरों की ओर चलता है तब राजनीतिक तथा सरकारी मसौदों से गायब रहने वाले इन मज़दूरों की अथाह भीड़ अपने अस्तित्व की ओर सबका ध्यान ज़बर्दस्ती खींच लेती है। बिहार का अपने राज्य के बाहर प्रवासी मज़दूरों के स्रोत के रूप में जाना जाना अनायास ही नहीं हुआ है। दशकों से रोज़गार की खोज में देश के कोने–कोने में पहुँच रहे मज़दूरों की निरंतर धारा से यह पहचान बनी है। रोज़गार का अभाव, निम्न वेतन तथा खेती का घाटे का सौदा होने जैसी समस्याएँ सिर्फ़ बिहार तक सीमित नहीं हैं। ये राष्ट्रीय समस्याएँ हैं। अलग–अलग मात्रा तथा रूपों में, भारत के लगभग सारे राज्य इनसे जूझ रहे हैं। इनके निराकरण के लिए मौजूदा या पिछली तमाम केंद्र सरकारों के पास कोई राष्ट्रीय नीति नहीं रही और नीतिनिर्माण की इच्छाशक्ति भी दिखाई नहीं पड़ती।

चुनावी शोर में मूलभूत मुद्दे ग़ायब

बिहार के इन विधानसभा चुनावों के दौरान, मजबूरी में ही सही, लेकिन अलग–अलग राजनीतिक दलों ने इन समस्याओं को हल करने के लिए अपने–अपने प्रस्ताव पेश किए। कुछ ने शिक्षा तथा कौशल विकास में **निवेश** करके पलायन को रोकने का वादा किया, तो कुछ ने **सरकारी नौकरियों तथा फ़ैक्ट्रियाँ** खुलवाकर रोज़गार देने का वादा किया। सत्ताधारी दल ने चुनाव से पहले महिलाओं के खाते में एकमुश्त राशि डाली, तो विपक्षी दलों ने सत्ता में आकर उस राशि को बढ़ाने का वादा किया। लेकिन, पलायन के संरचनात्मक कारणों की बात चुनावी शोर–शराबे में कहीं सुनाई ही नहीं दी।

हर दशक में होने वाली जनगणना के अलावा देशव्यापी स्तर पर प्रवास की सही स्थिति को मापने वाले स्रोत है ही नहीं। सन् 2011 के बाद से जनगणना नहीं हुई है। हालाँकि यह बेरोज़गारी तथा प्रवास की समस्या इतनी व्यापक है कि इसकी गंभीरता को समझने के लिए हमें आधिकारिक स्रोतों पर निर्भर रहने की ज़रूरत नहीं है। हमें सिर्फ़ अपनी आँखे खोलकर देखने की आवश्यकता है। देहातों के अधिकतम ग़रीब घरों की यह नियति बन चुकी है। कोरोना काल में यह समस्या विकास की चमचमाती सरकारी कहानियों तथा आँकड़ों के पर्दे को हटाकर, बदहवास होकर घर पहुँचने की उत्कंठा लिए जब सड़कों पर उतरी तो कुछ अवधि के लिए ही सही, लेकिन देश की चेतना पर अपने अमिट अस्तित्व को दर्ज करने में सफल रही। यह दशकों से विद्यमान एक राष्ट्रीय महामारी का अपनी मौजूदगी का सुबूत देना था—ऐसी महामारी जो कोरोना से ज़्यादा पुरानी और ज़्यादा भयावह है।

जनगणना 2011 के **अनुसार** बिहार की तत्कालीन जनसंख्या का तकरीबन 7 प्रतिशत अन्य राज्यों में रोज़गार के लिए पलायन किए हुए था। 1.23 करोड़ प्रवासी मज़दूरों के साथ उत्तर प्रदेश के बाद बिहार 74.54 लाख प्रवासी मज़दूरों के साथ दूसरे स्थान पर था। पूर्वी उत्तर प्रदेश तथा बिहार के 64 जनपदों के लिए गए एक **अध्ययन** ने अनुमान लगाया कि इस क्षेत्र के करीब आधे से ज़्यादा परिवारों में पलायन होता है। यह पलायन मुख्यत: पुरुष बहुल होता है। इस अध्ययन ने भूमि के स्वामित्व तथा पलायन के बीच सम्बंध को रेखांकित किया; जिन परिवारों से पलायन हुआ उनमें 82 प्रतिशत परिवार या तो भूमिहीन थे अथवा उनके पास एक एकड़ से कम भूमि थी।

बिहार तथा उत्तर प्रदेश जैसे राज्यों से रोज़गार के लिए दूसरे राज्यों में पलायन के मोटे तौर पर दो प्रमुख कारक हैं: पहला, इन राज्यों के भूमि सम्बंध तथा भूमि के स्वामित्व में असमानता; तथा दूसरा, गैर–कृषि क्षेत्रों में समुचित मात्रा में रोज़गार सृजन में कमी। पहला कारक पलायन की रूपरेखा को तय करता है। ज़मींदारी प्रथा वाले क्षेत्रों, जिनमें वर्तमान बिहार, पूर्वी उत्तर प्रदेश, पश्चिम बंगाल जैसे राज्य आते हैं, को भूमि स्वामित्व का सामंती ढाँचा विरासत में मिला था। आज़ादी के बाद कांग्रेस की अगुआई वाली सरकारों ने भूस्वामित्व के सामंती स्वरूप को अक्षुण्ण रखा। पश्चिम बंगाल तथा केरल जैसे राज्य, वामपंथी आंदोलनों की वजह से केंद्र सरकार से लड़कर अपने राज्यों में कुछ हद तक भूमि सुधार करने में सफल हो पाए। बिहार में भूमि स्वामित्व का सामंती आधार, और परिणामत: इसमें निहित असमानता बरकरार रही। बिहार सरकार द्वारा 2023 में जारी जातिगत जनगणना के आँकड़े इस असमानता की मौजूदगी की पुष्टि करते हैं। जातिगत जनगणना से पता चलता है पूर्ववर्ती जातियाँ जिनको अंग्रेज़ी हुकूमत में ज़मींदारी का अधिकार हासिल था, उनका भूमि पर आधिपत्य अभी भी कायम है। उदाहरण के लिए भूमिहार जाति, जिसकी बिहार की आबादी में कुल हिस्सेदारी 2.8 प्रतिशत है लेकिन राज्य की लगभग 39 प्रतिशत भूमि की मालिक है। बिहार राज्य की कुल आबादी में सिर्फ 6.4 प्रतिशत की हिस्सेदारी रखने वाली भूमिहार तथा ब्राह्मण जातियों का 55 प्रतिशत भूमि पर अधिकार है। एनएसएस (2018-19) के भी आँकड़े बताते हैं कि बिहार में दो तिहाई अनुसूचित जाति एवं अनुसूचित जनजाति के परिवार भूमिहीन हैं।

एनएसएस (2018-19) के आँकड़े दर्शाते हैं कि बिहार में भूस्वामी परिवारों की औसत भूस्वामित्व का रकबा 0.65 हेक्टेयर है, जोकि राष्ट्रीय औसत 0.97 से काफी कम है। हरियाणा तथा पंजाब जैसे राज्यों में भूस्वामी परिवारों का औसत भूस्वामित्व बिहार से करीब दोगुना है। बिहार में ज़्यादातर किसान सीमांत और छोटे हैं। इसके अतिरिक्त, बिहार में खेती में सार्वजनिक निवेश की कमी की वजह से सिंचाई के साधनों तथा उन्नत तकनीकों का अभाव है, जिस कारण यहाँ खेती की उत्पादकता काफी कम है। बढ़ते मशीनीकरण तथा खरपतवारनाशकों के आगमन, समय के साथ छोटी होती पारिवारिक जोत जैसे कारणों से खेती की रोज़गार पैदा करने की क्षमता घटती है। इस वजह से भूमिहीन तथा छोटे

किसानों को अपने पेट पालने के लिए गैर–कृषि क्षेत्रों की तरफ रुख करना पड़ता है। खेती की भूमिका सिर्फ रोज़गार देने तक सीमित नहीं है। यह विनिर्माण तथा सेवा सेक्टर के लिए भी माँग का स्रोत होता है। अगर भूमि का स्वामित्व बहुत असमान है, छोटे आकार की जोतों की अधिकता है; तो इससे खेती में होने वाला निजी उत्पादक निवेश करने की क्षमता घट जाती है। निम्न उत्पादकता वाली खेती विनिर्माण तथा सेवा सेक्टर के विकास को भी कुंद करती है।

गैर–कृषि क्षेत्रों में रोज़गार सृजन ना हो पाना एक पुरानी समस्या है। बढ़ती जीडीपी दर और घटते रोज़गार को बहुत सारे शोधकर्ताओं ने भारत के नवउदारवादी दौर के विकास हालमार्क माना है। यह एक देशव्यापी समस्या है। पीएलएफ़एस के आँकड़े बताते हैं कि रोज़गार सृजन के अभाव में लोग मजबूरी में खेती में संलग्न होने को मजबूर हैं। भारत में 2017-18 से 2023-24 के दौरान खेती में संलग्न आबादी के हिस्से में कोई खास बदलाव नहीं आया है, जबकि इस दौरान, जीडीपी में कृषि की सहभागिता घटी है। वहीं बिहार में इस दौरान खेती में संलग्न कामगारों का हिस्सा 45 से बढ़कर 48 प्रतिशत हो गया है। विनिर्माण सेक्टर, जिसे औद्योगीकरण का पर्याय माना जाता, उसमें संलग्न कामगारों का प्रतिशत 2017-18 में करीब 9 प्रतिशत से घटकर 2023-24 में 5 प्रतिशत हो गया है। ये आँकड़े बिहार में अन्य सेक्टरों में रोज़गार के अभाव की गंभीर समस्या की ओर इशारा करते हैं। जिन राज्यों में अपेक्षाकृत ज्यादा खेती योग्य भूमि है वहाँ तो प्रछन्न बेरोज़गारी खेती में संलग्न होकर छुप जाती है। लेकिन, बिहार जैसे राज्य में, जहाँ भूमिहीनता ज्यादा है, वहाँ गैर–कृषि सेक्टरों में रोज़गार सृजन का अभाव पलायन के रूप में दिखता है। एक तरह से, भूमि का सामंती स्वामित्व पलायन की भूमिका तैयार करता है।

बिहार में पुरुष रोज़गार की तलाश में बाहर जा रहे हैं और खेती महिला प्रधान हो रही है। बिहार में 2017-18 में 54 प्रतिशत महिलाएँ खेती के कामों में संलग्न थीं, जो 2023-24 में 77 प्रतिशत हो गया है। इसके उलट, पुरुषों के मामलें में यह 45 से घटकर 42 प्रतिशत हुआ है। ऊपर उद्धृत अध्ययन तथा बहुत सारे अन्य अध्ययन बताते हैं कि बिहार से होने वाला पलायन पुरुष बहुल होता है। महिलाओं का खेती में प्रतिभाग बढ़ने के पीछे पलायन एक मुख्य कारण प्रतीत होता है। रोज़गार के अभाव, पलायन तथा उप्लब्ध रोज़गार के लिए होने वाली प्रतिस्पर्धा ने महिलाओं के हाशियाकरण को एक अन्य तरीके से पुख्ता किया है। जहाँ 2017-18 में करीब एक–तिहाई पुरुष तथा महिला कामगार, दोनों ही गैर–कृषि सेक्टरों में पगार के बदले काम कर रहे थे; वहीं 2023-24 में पुरुषों के लिए यह आँकड़ा कमोबेश उतना ही रहा; जबकि महिलाओं के लिए यह गिरकर मात्र दस प्रतिशत रह गया। यानी, महिलाओं के हाथों से पैसा कमाने वाला काम निकल रहा है और उनको मजबूरी में खेती का काम करना पड़ रहा है।

नवउदारवाद से इतर विकास का एजेंडा तैयार होना चाहिए

इसका सीधा कारण खेती के बाहर वैतनिक रोज़गार में गिरावट है। बिहार जैसे राज्य में—जहाँ रोज़गार की भारी कमी है, असमानता और कमाई कम होने की वजह से स्थानीय स्तर पर माँग बेहद कम है—विकास के नवउदारवादी फ़ॉर्मूले औंधे मुँह गिरे हैं। नवउदारवादी विचार मानता है कि औद्योगीकरण के माध्यम से आर्थिक विकास एवं रोज़गार सृजन के लिए उत्कृष्ठ माध्यम निजी क्षेत्र है। निजी निवेश को रिझाने के लिए सरकार तमाम तरह की रियायतें प्रदान कर रही है। औने-पौने दामों पर उत्पादन के साधन उनको मुहैया कराए जा रहे हैं। न्यूनतम मज़दूरी तथा श्रम कानूनों को ठंडे बस्ते में डाल दिया गया है। इसके बावजूद न तो बिहार में निजी निवेश में कोई उछाल आया है और न ही औद्योगिकरण शुरू हो पाया है। बिहार भारत के सबसे ग़रीब राज्यों में से एक है। फलत: यहाँ आर्थिक माँग का स्तर भी निम्न है। बिहार की अर्थव्यवस्था एक पेचीदा स्थिति में फँसी है—असमानता, ग़रीबी, माँग का निम्न स्तर, कम वेतन तथा बेरोज़गारी। ऐसी हालत में निजी क्षेत्र रोज़गार सृजन तथा समुचित वेतन दे पाएगा? नवउदारवादी व्यवस्था पूरी दुनिया में कहीं भी इन समस्याओं को हल नहीं कर पाई है। बल्कि, जिन देशों की सरकारें नवउदारवादी नीतियों पर चल रही हैं वहाँ पर बेरोज़गारी तथा असमानता की समस्याएँ गंभीर होती गई हैं। समाज की सामंती आर्थिक संरचना को तोड़े बगैर जिन देशों ने नवउदारवाद को अपनाया है वहाँ पर नवउदारवाद जनित असमानता तथा ग़रीबी अपनी सामंती नींव पर ही फली-फूली है।

इस दुरूह चक्र को तोड़ने के लिए कृषि में आमूलचूल सुधार करने की ज़रूरत है। भूमि सुधार के एजेंडे को दुबारा राजनीतिक एजेंडा बनाने और खेती में सार्वजनिक निवेश बढ़ाकर उत्पादन के साधनों, बाज़ार, शोध तथा कृषिय तकनीक को बेहतर करने की ज़रूरत है। इससे खेती की उत्पादकता बढ़ेगी तथा श्रम की माँग बढ़ेगी। गैर–कृषि सेक्टरों में सार्वजनिक पहल के बिना बात नहीं बनेगी। इसका एक मॉडल आज़ादी के बाद दूसरी पंचवर्षीय योजना के दौरान शुरू किए गए औद्योगीकरण की पहल के रूप में मौजूद है। इससे सीख लेकर जब तक औद्योगीकरण की एक समावेशी योजना नहीं बनाई जाती तबतक ना तो गैर–कृषिय सेक्टर का विकास होगा और न ही समुचित मात्रा में रोज़गार का सृजन होगा। एक गरिमापूर्ण जीवन जीने के लिए आवश्यक न्यूनतम वेतन, हर मज़दूर को सामाजिक सुरक्षा जैसे विधिक प्रावधान और उनका अनुपालन जैसे मुद्दों को जनता का मुद्दा बनाने की जरूरत है। न्यूनतम वेतन और सामाजिक सुरक्षा जैसे विधिक प्रावधानों के बिना सृजित रोज़गार लोगों की ज़िंदगी खुशहाल बनाने की बजाय उनको श्रम के सस्ते साधन बनाकर छोड़ देंगे। इसके साथ–ही–साथ, गुणवत्तापूर्ण शिक्षा तथा सार्वभौमिक स्वास्थ्य सेवा को भी सशक्त राजनीतिक मुद्दे के रूप में उभरकर आने की ज़रूरत है। सामाजिक न्याय आर्थिक न्याय की अवधारणा के बिना अधूरा है। जब तक उपरोक्त मुद्दे एक व्यापक सामाजिक आंदोलन और राजनीतिक परिघटना का रूप नहीं लेते, तब तक चुनाव का दौर जनता के मुद्दों को सरकारी नीतियों के दायरे में लाने और उनको हल करने की कवायत की बजाय पाँच सालों में एक बार आने वाला वादों का मौसम बनकर रह जाएगा।

(इस लेख में शामिल कलाकृतियाँ उमेश सिंह की रचनाएँ हैं।)

उमेश यादव

उमेश यादव